ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचायें : एक अध्ययन

- प्रो. सागरमल जैन

भारतीय संस्कृति श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतियों का समन्वित रूप है। जहाँ श्रमण संस्कृति तप-त्याग एवं ध्यान साधना प्रधान रही है, वहाँ ब्राह्मण संस्कृति यज्ञ-याग मूलक एवं कर्मकाण्डात्मक रही है। हम श्रमण संस्कृति को आध्यात्मिक एवं निवृत्तिपरक अर्थात् संन्यासमूलक भी कह सकते हैं, जबकि ब्राह्मण संस्कृति को सामाजिक एवं प्रवृत्तिमूलक कहा जा सकता है। इन दोनों संस्कृतियों के मूल आधार तो मानव-प्रकृति में निहित वासना और विवेक अथवा भोग और योग (संयम) के तत्त्व ही हैं, जिनकी स्वतन्त्र चर्चा हमने अपने ग्रन्थ 'जैन, बौद्ध एवं गीता का साधना मार्ग' की भूमिका में की है[1]। यहाँ पर इन दोनों संस्कृतियों के विकास के मूल उपादानों एवं उनके क्रम तथा वैशिष्ट्य की चर्चा में न जाकर उनके ऐतिहासिक अस्तित्व को ही अपनी विवेचना का मूल आधार बनायेंगें।

भारतीय संस्कृति के इतिहास को जानने के लिये प्राचीनतम साहित्यिक स्रोत के रूप में वेद और प्राचीनतम पुरातात्विक स्रोत के रूप में मोहनजोदड़ो एवं हरप्पा के अवशेष ही हमारे आधार हैं। संयोग से इन दोनों ही आधारों या साक्ष्यों से भारतीय श्रमण धारा के अति प्राचीन काल में भी उपस्थित होने के संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। यद्यपि इसकी अति प्राचीनता के अनेक दावे किये जाते हैं और मीमांसक दर्शनधारा के विद्वान तो इसे अनादि और अपौरुषेय भी मानते हैं फिर भी इतना निश्चित है कि ईस्वी पूर्व 1500 वर्ष पहले यह अपने वर्तमान स्वरूप में अस्तित्व में आ चुका था। इस प्राचीनतम ग्रन्थ में हमें श्रमण संस्कृति के अस्तित्व के संकेत उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में भारतीय संस्कृति की इन श्रमण और ब्राह्मण धाराओं का निर्देश क्रमशः आर्हत और बार्हत धाराओं के रूप में मिलता है। साथ ही मोहनजोदड़ो के उत्खनन् से प्राप्त वृषभ युक्त ध्यान मुद्रा में योगियों की सीलें इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण हैं कि ऋग्वेद के रचनाकाल के पूर्व भी भारत में श्रमण धारा का न केवल अस्तित्व था, अपितु वही एक मात्र प्रमुख धारा थी। क्योंकि मोहनजोदड़ो और हरप्पा के उत्खनन में कहीं भी यज्ञवेदी उपलब्ध नहीं हुई है इससे यही सिद्ध होता है कि भारत में तप एवं ध्यान प्रधान आर्हत परम्परा का अस्तित्व अति प्राचीन काल से ही रहा है।

यदि हम जैन धर्म के प्राचीन नामों के सन्दर्भ में विचार करें तो यह सुस्पष्ट है कि प्राचीन काल में यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रसिद्ध रहा है। वास्तविकता तो यह है कि जैन धर्म का पूर्व रूप आर्हत धर्म था। ज्ञातव्य है कि जैन-शब्द महावीर के निर्वाण के लगभग 1000 वर्ष

- ऋषभदेव प्रतिष्ठान देहली द्वारा आयोजित १४ से १६ मार्च १९९३ की संगोष्ठी में पठित आलेख

पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है। सातवीं शती से पूर्व हमें कहीं भी जैन शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि इसकी अपेक्षा 'जिन' व 'जिन-धम्म' के उल्लेख प्राचीन हैं। किन्तु अर्हत्, श्रमण, जिन आदि शब्द बौद्धों एवं अन्य श्रमण धाराओं में भी सामान्यरूप से प्रचलित रहे हैं। अतः जैन परम्परा की उनसे पृथकता की दृष्टि से पार्श्व के काल में यह धर्म निर्ग्रन्थधर्म के नाम से जाना जाता था। जैन आगमों से यह ज्ञात होता है कि ई.पू. पाचवीं शती में श्रमण धारा मुख्य रूप से 5 भागों में विभक्त थीं -- 1. निर्ग्रन्थ, 2. शाक्य, 3. तापस 4. गैरुक और 5. आजीवक[2]। वस्तुतः जब श्रमण धारा विभिन्न वर्गों में विभाजित होने लगी तो जैन धारा के लिए पहले 'निर्ग्रन्थ' और बाद में 'ज्ञातपुत्रीय श्रमण' शब्द का प्रयोग होने लगा। न केवल पाली त्रिपिटक एवं जैन आगमों में अपितु अशोक (ई.पू.-3 शती) के शिलालेखों में भी जैनधर्म का उल्लेख निर्ग्रन्थ धर्म के रूप में ही मिलता है[3]।

वस्तुतः पार्श्वनाथ एवं महावीर के युग में प्रचलित धर्म से पूर्व सम्पूर्ण श्रमण धारा आर्हत परम्परा के रूप में ही उल्लेखित होती थी और इसमें न केवल जैन, बौद्ध, आजीवक आदि परम्परायें सम्मिलित थीं, अपितु औपनिषदिक-ऋषि परम्परा और सांख्य-योग की दर्शनधारा एवं साधना-परम्परा भी इसी में समाहित थी। यह अलग बात है कि औपनिषदिक धारा एवं सांख्य-योग परम्परा के बृहद् हिन्दूधर्म में समाहित कर लिये जाने एवं बौद्ध तथा आजीवक परम्पराओं के क्रमशः इस देश से निष्कासित अथवा मृतप्रायः हो जाने पर जैन परम्परा को पुनः पूर्व मध्ययुग में आर्हत धर्म नाम प्राप्त हो गया। किन्तु यहाँ हम जिस आर्हत परम्परा की चर्चा कर रहे हैं, वह एक प्राचीन एवं व्यापक परम्परा है। ऋषिभाषित नामक जैन ग्रन्थ में नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, अरुण, उद्दालक, अंगिरस, पाराशर आदि अनेक औपनिषदिक ऋषियों का अर्हत् ऋषि के रूप में उल्लेख हुआ है। साथ ही सारिपुत्र, महाकाश्यप आदि बौद्ध श्रमणों एवं मंखलीगोशाल, संजय आदि अन्य श्रमण परम्परा के आचार्यों का भी अर्हत् ऋषि के रूप में उल्लेख हुआ है[4]। बौद्ध परम्परा में बुद्ध के साथ साथ अर्हत् अवस्था को प्राप्त अन्य श्रमणों को अर्हत् कहा जाता था। बुद्ध के लिये अर्हत् विशेषण सुप्रचलित था, यथा -- **नमोतस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स**। इस प्रकार प्राचीन काल में श्रमण धारा अपने समग्र रूप में आर्हत परम्परा के नाम से ही जानी जाती थी। वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से ऋग्वेद में आर्हत व बार्हत धाराओं का उल्लेख भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है[5]। आर्हत धर्म वस्तुतः वहाँ निवृत्तिप्रधान सम्पूर्ण श्रमणधारा का ही वाचक है। आर्हत शब्द से ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आर्हत-अर्हतों के उपासक थे और अर्हत् अवस्था को प्राप्त करना ही अपनी साधना का लक्ष्य मानते थे। बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के पूर्व वज्जियों के अपने अर्हतों एवं चैत्यों की उपस्थिति के निर्देश हैं[6]। आर्हतों से भिन्न वैदिक परम्परा ऋग्वैदिक काल में बार्हत नाम से जानी जाती थी।

ऋग्वेद के दशम् मण्डल के 85 वें सूक्त की चतुर्थ ऋचा में स्पष्ट रूप से बार्हत शब्द उल्लेख हुआ है। वह ऋचा इस प्रकार है -

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठासि न ते अश्नन्ति पार्थिवः ।। – ऋग्वेद 10 ।85 ।4

अर्थात् हे सोम। तू गुप्त विधि विधानों से रक्षित बार्हत गणों से संरक्षित है। तू (सोमलता के) पीसने वाले पत्थरों का शब्द सुनते ही रहता है। तुझे पृथ्वी का कोई भी सामान्य जन नहीं खा सकता।

बृहती वेद को कहते हैं[7] और इस बृहती के उपासक बार्हत कहे जाते थे। इस प्रकार वेदों में वर्णित सोमपान एवं यज्ञ-याग में निष्ठा रखने वाले और उसे ही अपनी धर्म साधना का सर्वस्व मानने वाले लोग ही बार्हत थे। इनके विपरीत ध्यान और तप साधना को प्रमुख मानने वाले व्यक्ति आर्हत नाम से जाने जाते थे। वैदिक साहित्य में हमें स्पष्ट रूप से अर्हत् को मानने वाले इन आर्हतों के उल्लेख उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में अर्हन् और अर्हन्त शब्दों का प्रयोग नौ ऋचाओं में दस से अधिक बार हुआ है[8]। सामान्यतया वैदिक, विद्वानों ने इन ऋचाओं में प्रयुक्त अर्हन् शब्द को पूजनीय के अर्थ में अग्नि, रुद्र आदि वैदिक देवताओं के विशेषण के रूप में ही व्याख्यायित किया है। यह सत्य है कि एक विशेषण के रूप में अर्हन् या अर्हत् का शब्द का अर्थ पूजनीय होता है, किन्तु ऋग्वेद में अर्हन् के अतिरिक्त अर्हन्त शब्द का स्पष्ट स्वतन्त्र प्रयोग यह बताता है कि वस्तुतः वह एक संज्ञा पद भी है और अर्हन्त देव का वाची है। इस सन्दर्भ में निम्न ऋचाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं –

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बं न वा ओजीयो रुद्र-त्वदस्ति।। (2.33.10)

प्रस्तुत ऋचा को रुद्र सूक्त के अन्तर्गत होने के कारण वैदिक व्याख्याकारों ने यहाँ अर्हन् शब्द को रुद्र का एक विशेषण मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है--

हे रुद्र ! योग्य तू बाणों और धनुष को धारण करता है। योग्य तू, पूजा के योग्य और अनेक रूपों वाले सोने को धारण करता है। योग्य तू इस सारे विस्तृत जगत् की रक्षा करता है। हे रुद्र, तुझसे अधिक तेजस्वी और कोई नहीं है।

जैन दृष्टि में इस ऋचा को निम्न प्रकार से भी व्याख्यायित किया जा सकता है --

हे अर्हन् ! तू (संयम रूपी) शस्त्रों (धनुष-बाण) को धारण करता है ? और सांसारिक जीवों में प्राण रूप स्वर्ण का त्याग कर देता है ? निश्चय ही तुझसे अधिक बलवान और कठोर और कोई नहीं है। हे अर्हन् तु विश्व की अर्थात् संसार के प्राणियों की मातृवत् दया करता है।

प्रस्तुत प्रसंग में अर्हन् की ब्याज रूप से स्तुति की गयी है। यहाँ शस्त्र धारण करने का तात्पर्य कर्म शत्रुओं या विषय वासनाओं को पराजित करने के लिए संयम रूपी शस्त्रों के धारण करने से है। जैन परम्परा में 'अरिहंत' शब्द की व्याख्या शत्रु का नाश करने वाला, इस रूप में की गई है। आचारांग में साधक को अपनी वासनाओं से युद्ध करने का निर्देश दिया गया है।[9]

इसी प्रकार ब्याज रूप से यह कहा गया है कि जहाँ सारा संसार स्वर्ण के पीछे भागता है, वहीं, तू इसका त्याग करता है। यहा यजतं शब्द त्याग का वाची माना जा सकता है। अतः तुझसे अधिक कठोर व समर्थ कौन हो सकता है ? प्रस्तुत प्रसंग में 'अर्हन् दयसे विश्वमम्बं' शब्द अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें अर्हन् को विश्व के सभी प्राणियों की दया करने वाला तथा मातृवत् कहा गया है, जो जैन परम्परा का मूल आधार है। इसी प्रकार पंचम मण्डल के बावनवें सूक्त की पाँचवीं ऋचा भी महत्वपूर्ण है --

अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः ।
प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भयेः ।। ऋग्वेद 5 । 52 । 5

सायण की व्याख्या के अनुसार इस ऋचा का अर्थ इस प्रकार है--

जो पूज्य, दानशूर सम्पूर्ण बल से युक्त तथा तेजस्वी द्यौतमान नेता है, उन पूज्य वीर-मरुतों के लिए यज्ञ करो और उनकी पूजा करो।

हम प्रस्तुत ऋचा की भी जैन दृष्टि से निम्न व्याख्या कर सकते हैं --

जो दानवीर, तेजस्वी, सम्पूर्ण वीर्य से युक्त, नर श्रेष्ट अर्हन्त हैं, वे याज्ञिकों के लिए यजन के और मरुतों के लिए अर्चना के विषय हैं।

इसी प्रकार से अर्हन् शब्द वाची अन्य ऋचाओं की भी जैन दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। वैदिक ऋचाओं की व्याख्याओं के साथ कठिनाई यह है कि उनकी शब्दानुसारी सरल व्याख्या सम्भव नहीं होती है, लक्षणा प्रधान व्याख्या ही करनी होती है। अतः उन्हें अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है।

ऋग्वेद में न केवल सामान्य रूप से श्रमण परम्परा और विशेष रूप से जैन परम्परा से सम्बन्धित अर्हन्, अर्हन्त, व्रात्य, वातरशनामुनि, श्रमण आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है, अपितु उसमें आर्हत परम्परा के उपास्य वृषभ का भी शताधिक बार उल्लेख हुआ है। मुझे ऋग्वेद में वृषभ वाची 112 ऋचाएँ उपलब्ध हुई हैं। सम्भवतः कुछ और ऋचाएँ भी मिल सकती हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन समस्त ऋचाओं में प्रयुक्त 'वृषभ' शब्द ऋषभदेव का ही वाची है। फिर भी कुछ ऋचाएँ तो अवश्य ही ऋषभदेव से सम्बन्धित मानी जा सकती हैं। डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. जीमर, प्रो. वीरपाक्ष वाडियर आदि कुछ जैनेतर विद्वान भी इस मत के प्रतिपादक है कि ऋग्वेद में जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से सम्बन्धित निर्देश उपलब्ध होते है[10]। आर्हत धारा के आदि पुरुष के रूप में ऋषभ का नाम सामान्य रूप से स्वीकृत रहा है। क्योंकि हिन्दू पुराणों एवं बौद्ध ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि होती है। जैनों ने उन्हें अपना आदि तीर्थंकर माना है। इतना सुनिश्चित है कि ऋषभदेव भारतीय संस्कृति की निवृत्तिप्रधान धारा के प्रथम पुरुष हैं। हिन्दू परम्परा में जो अवतारों की चर्चा है, उसमें ऋषभ का क्रम 8वाँ है, किन्तु यदि मानवीय रूप में अवतार की दृष्टि से विचार करें तो लगता है कि वे ही प्रथम मानवावतार थे। यद्यपि ऋषभ की अवतार रूप में स्वीकृति हमें सर्वप्रथम पुराण साहित्य में विशेषतः भागवत

पुराण में मिलती है, जो कि परवर्ती ग्रन्थ है। किन्तु इतना निश्चित है कि श्रीमद्भागवत में ऋषभ का जिस रूप में प्रस्तुतिकरण है, वह उन्हें निवृत्तिप्रधान श्रमण संस्कृति का आदि पुरुष सिद्ध करता है[11]। श्रीमद्भागवत पुराण के अतिरिक्त लिंगपुराण, शिवपुराण, आग्नेयपुराण, ब्रह्मांडपुराण, विष्णुपुराण, कूर्मपुराण, वराहपुराण और स्कन्ध पुराण में भी ऋषभ का उल्लेख एक धर्म प्रवर्तक के रूप में हुआ है[12]। यद्यपि प्रस्तुत निबन्ध में हम ऋग्वेद में उपलब्ध वृषभ वाची ऋचाओं की ही चर्चा तक अपने को सीमित करेंगे।

ऋग्वेद में 'वृषभ' शब्द का प्रयोग किन-किन सन्दर्भों में हुआ है यह अभी भी एक गहन शोध का विषय है, जहाँ एक ओर अधिकांश वैदिक विद्वान व भाष्यकार ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ (ऋषभ) शब्द का अर्थ बैल[13], बलवान[14], उत्तम, श्रेष्ठ[15] वर्षा करने वाला[16], कामनाओं की पूर्ति करने वाला[17] आदि करते हैं, वहीं जैन विद्वान उसे अपने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का वाची मानते हैं। जैन विद्वानों ने ऋषभदेव की चर्चा के सन्दर्भ में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि की अनेक ऋचाएँ प्रस्तुत भी की हैं और उनका जैन संस्कृति अनुसारी अर्थ करने का भी प्रयत्न किया है। प्रस्तुत निबन्ध में मैंने भी एक ऐसा ही प्रयत्न किया है। किन्तु ऐसा दावा मैं नहीं करता हूँ कि यही एक मात्र विकल्प है। मेरा कथ्य मात्र यह है कि उन ऋचाओं के अनेक सम्भावित अर्थों में यह भी एक अर्थ हो सकता है, इससे अधिक सुनिश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता है। ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में हमें पर्याप्त सतर्कता एवं सावधानी बरतनी होगी, क्योंकि जहाँ तक वैदिक ऋचाओं का प्रश्न है उनका अर्थ करना एक कठिन कार्य है। अधिक क्या कहें सायण जैसे भाष्यकारों ने भी ऋग्वेद के 10 वें मण्डल के 106 वें सूक्त के ग्यारह मन्त्रों की व्याख्या करने में असमर्थता प्रकट की है। मात्र इतना ही नहीं कुछ अन्य मंत्रों के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि इन मंत्रों से कुछ भी अर्थ बोध नहीं होता है। कठिनाई यह है कि सायण एवं महिधर के भाष्यों और ऋग्वेद के रचना काल में पर्याप्त अन्तर है। जो ग्रन्थ ईसा से 1500 वर्ष पूर्व कभी बना हो, उसका ईसा की 15 वीं शती में अर्थ करना कठिन कार्य है क्योंकि इसमें न केवल भाषा की कठिनाई होती है, अपितु शब्दों के रुढ़ अर्थ भी पर्याप्त रूप से बदल चुके होते हैं। वस्तुतः वैदिक ऋचाओं को उनके भौगोलिक व सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझे बिना उनका जो अर्थ किया जाता है, वह ऋचाओं में प्रकट मूल भावों के कितना निकट होगा, यह कहना कठिन है। स्कन्दस्वामी, सायण एवं महिधर के बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक मंत्रों की अपनी दृष्टि से व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। यदि हम सायण और दयानन्द की व्याख्याओं को देखें, तो यह स्पष्ट होता है कि सायण एवं दयानन्द की व्याख्याओं में बहुत अधिक अन्तर है। ऋग्वेद में जिन-जिन ऋचाओं में वृषभ शब्द आया है, वे सभी ऋचाएँ ऐसी हैं कि उन्हें अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है।

मूल समस्या तो यह है कि वैदिक ऋचाओं का शाब्दिक अर्थ ग्रहण करें या लाक्षणिक अर्थ। जहाँ तक वृषभ सम्बन्धी ऋचाओं के अर्थ का प्रश्न है मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि उनका शब्दानुसारी अर्थ करने पर न तो जैन मन्तव्य की पुष्टि होती है और न आर्यसमाज के मंतव्यों की पुष्टि होगी, न ही उनसे किसी विशिष्ट दार्शनिक चिन्तन का अवबोध होता है। यद्यपि वैदिक

मंत्रों के अर्थ के लिए सर्वप्रथम यास्क ने एक प्रयत्न किया था, किन्तु उसके निरुक्त में ही यह भी स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि उस समय भी, कोत्स आदि आचार्य ऐसे थे, जो मानते थे कि वेदों के मंत्र निरर्थक हैं[18]। यद्यपि हम इस मत से सहमत नहीं हो सकते। वस्तुतः वैदिक मंत्र एक सहज स्वाभाविक मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति है किन्तु ऐसा मानने पर वेदों के प्रति जिस आदर भाव या उनकी महत्ता की जो बात है वह क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि स्वामी दयानन्द आदि ने वेदों में रहस्यात्मकता व लाक्षणिकता को प्रमुख माना और उसी आधार पर मंत्रों की व्याख्यायें कीं। अतः सबसे प्रथम यह विचारणीय है कि क्या वेद मंत्रों की व्याख्या उन्हें रहस्यात्मक व लाक्षणिक मानकर की जाय अथवा नहीं। क्योंकि यदि हम ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ शब्द को ऋषभदेव के अर्थ में ग्रहण करना चाहते हैं, तो हमारे मत की पुष्टि रहस्यात्मक एवं लाक्षणिक व्याख्यायों द्वारा ही सम्भव है। शब्दानुसारी सामान्य अर्थ की दृष्टि से ऐसी पुष्टि सम्भव नहीं है।

सबसे पहले हम इसी प्रश्न पर विचार करें कि क्या वैदिक ऋचाओं का लाक्षणिक व रहस्यात्मक अर्थ किया जाना चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि अनेक वैदिक ऋचाएँ व मंत्र अपने शब्दानुसारी अर्थ में बहुत ही साधारण से लगते हैं जबकि उनका लाक्षणिक अर्थ अत्यन्त ही गम्भीर होता है। वैदिक ऋचाएँ लाक्षणिक व रहस्यात्मक अर्थ की वाचक हैं यह समझने के लिए पहले हमें औपनिषदिक साहित्य पर भी इस दृष्टि से विचार करना होगा, क्योंकि अनेक उपनिषद् वेदों में समाहित हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में निम्न श्लोक पाया जाता है --

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृज्यमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।

यदि हम **श्वेताश्वतरोपनिषद्** ? के इस श्लोक का शब्दानुसारी यह अर्थ करते हैं कि एक काले, लाल व सफेद रंग की बकरी है, जो अपने समान ही संतान को जन्म देती है। एक बकरा उसका भोग कर रहा है, जबकि दूसरे ने उसका भोग करके परित्याग कर दिया है। इस अर्थ की दृष्टि से यह श्लोक एक सामान्य पशु की प्राकृतिक स्थिति का चित्रण मात्र है, लेकिन हम इसके पूर्वापर सम्बन्ध को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि औपनिपदिक ऋषि का यह कथन केवल एक पशु का चित्रण नहीं है, अपितु एक रूपक है, जिसके लाक्षणिक अर्थ के आधार पर वह प्रकृति की त्रिगुणात्मकता के साथ उसके द्वारा सृष्ट पदार्थों के त्रिगुणात्मक स्वरूप को स्पष्ट करना चाहता है। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि वेदों की ऋचाएँ एवं औपनिषदिक श्लोक मात्र सामान्य अर्थ के सूचक नहीं हैं। उनमें अनेक स्थानों पर रूपकों के माध्यम से दार्शनिक रहस्यों के उद्घाटन का प्रयत्न किया गया है। इस सन्दर्भ में हम ऋग्वेद की ही दसवें मण्डल की एक ऋचा लेते हैं --

ऋतस्य हि सदसो धीतिरद्यौत्सं गार्ष्टेयो वृषभो गोभिरानट्।
उदतिष्ठत्तविषेणा रवेण महान्ति चित्सं विव्याचा रजांसि।।(10.111.2)

इस ऋचा के शाब्दिक अर्थ के अनुसार इसके द्वितीय चरण का अर्थ होगा तरुण गाय से उत्पन्न वृषभ रंभाता हुआ गौओं के साथ मिलता है, किन्तु मात्र इतना अर्थ करने पर ऋचा का भाव स्पष्ट नहीं होता है। इसके पूर्व ऋतस्य ही सदसो धीतिरद्यौत्सं इस पूर्वचरण को भी लेना होता है। इस चरण का अर्थ भी सायण और दयानन्द ने अलग-अलग ढंग से किया है, किन्तु वे अर्थ भी लाक्षणिक ही हैं। जहाँ दयानन्द 'ऋतस्य ही सदसोधीतिरद्यौत्' का अर्थ ऋत की सभा की धारणा शक्ति प्रकाशित हो रही है -- ऐसा अर्थ करते हैं[19], वहीं सायण भाष्य पर आधारित होकर सातवेलकर इसका अर्थ जल स्थान का अर्थात् अन्तरिक्ष का धारक यह इन्द्र प्रकाशता है, ऐसा अर्थ करते हैं[20], किन्तु ये दोनों ही अर्थ न तो पूर्णतः शब्दानुसारी है और न पूर्णतः लाक्षणिक ही कहे जा सकते हैं। दयानन्द ने उसकी लाक्षणिकता को स्पष्ट करते हुए -- ईश्वर का प्रकाश फैला है ऐसा भावार्थ किया है। लेकिन यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि भारतीय चिन्तन में ईश्वर की अवधारणा एक परवर्ती विकास है। ऋत की अवधारणा प्राचीन है और उसका अर्थ सत्य या व्यवस्था है।

प्रस्तुत प्रसंग में इस ..चा को वृषभ से संबन्धित मानते हैं तो इसका अर्थ इस प्रकार होगा-- जिस प्रकार तरुण गाय से उत्पन्न वृषभ गौ समूह के बीच अपनी ध्वनि से सुशोभित होता है, उसी प्रकार ऋषभ के केवल ज्ञान से उत्पन्न सम्यक् वाणी से सत्य की सभा सुशोभित होती है। वह (ऋषभदेव) समवसरण में ऊपर आसीन होकर जिस वाणी का उद्घोष करते हैं, वह अपने तीव्र रव शब्द ध्वनि के द्वारा इस समस्त लोक को व्याप्त करती है। इस प्रकार उपर्युक्त ऋचा का जैन दृष्टि से जो लाक्षणिक अर्थ किया जाता है, वह अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के 58 वें सूक्त की तीसरी ऋचा, जो वृषभ से सम्बन्धित है, के अर्थ पर भी विचार करें। यह ऋचा इस प्रकार है --

चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।। (4.58.3)

इस ऋचा का शब्दानुसारी सामान्य अर्थ इस प्रकार है --

इस वृषभ अथवा देव के चार सींग, तीन पैर, दो सिर और इसके सात हाथ हैं। यह वृषभ या बलवान देव तीन स्थानों पर बंधा हुआ शब्द करता है, यह महान देव मनुष्यों में प्रविष्ट है[21]। इस शब्दानुसारी अर्थ के आधार पर -- न तो इसमें वृषभ (बैल) का यथार्थ प्राकृतिक स्वरूप का चित्रण है -- यह कहा जा सकता है और न किसी अन्य अर्थ का स्पष्ट बोध होता है। अतः स्वाभाविक रूप से इसके लाक्षणिक अर्थ की ओर जाना होता है।

दयानन्द सरस्वती इसका लाक्षणिक अर्थ इस प्रकार करते हैं--

हे मनुष्यों ! जो बड़ा सेवा और आदर करने योग्य स्वप्रकाश स्वरूप और सब को सुख देने वाला मरणधर्म वाले मनुष्य आदि को सब प्रकार से व्याप्त होता है और जो सुखों को वर्षाने वाला तीन श्रद्धा, पुरुषार्थ और योगाभ्यास से बंधा हुआ विस्तर उपदेश देता है। इस धर्म

से युक्त नित्य और नैमित्तिक परमात्मा के बोध के दो उन्नति और मोक्ष रूप शिर स्थानापन्न तीन अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान रूप चलने योग्य पैर और चार वेद श्रृंगो के सदृश आप लोगों को जानने योग्य हैं और इस धर्म व्यवहार के पाँच ज्ञानेन्द्रिय वा पाँच कर्मेन्द्रिय अन्तःकरण और आत्मा ये सात हाथों के सदृश वर्त्तमान है, और उक्त तीन प्रकार से बधाँ हुआ व्यवहार भी जानने योग्य है[22]। किन्तु यदि इस उपर्युक्त ऋचा का अर्थ जैन दृष्टि से करें तो तीन योगों अर्थात् मन, वचन व काय से बद्ध या युक्त ऋषभ देव ने यह उद्घोषणा की कि महादेव अर्थात् परमात्मा मृत्यों में ही निवास करता है, उसके अनन्त चतुष्ठय रूप अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त सुख व अनन्त वीर्य ऐसे चार श्रृङ्ग हैं और सम्यक् दर्शन, ज्ञान व चारित्र रूप तीन पाद हैं। उस परमात्मा के ज्ञान उपयोग व दर्शन-उपयोग ऐसे दो शीर्ष हैं तथा पाँच इन्द्रियां, मन व बुद्धि ऐसे सात हाथ हैं। श्रृङ्ग आत्मा के सर्वोत्तम दशा के सूचक हैं जो साधना की पूर्णता पर अनन्त चतुष्टय के रूप में प्रकट होते हैं और पाद उस साधना मार्ग के सूचक हैं जिसके माध्यम से उस सर्वोत्तम आत्म अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। सप्त हस्त ज्ञान प्राप्ति के सात साधनों को सूचित करते हैं। ऋषभ को त्रिधाबद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि वह मन वचन एवं काय योगों की उपस्थिति के कारण ही संसार में है। बद्ध का अर्थ संयत या नियन्त्रित करने पर मन, वचन, व काय से संयत ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि यहां जैन दृष्टि से किया लाक्षणिक अर्थ उतना ही समीचीन है, जितना स्वामी दयानन्द का लाक्षणिक अर्थ। इतना अवश्य सत्य है कि इस ऋचा का कोई भी शब्दानुसारी अर्थ इसके अर्थ को अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। अतः हमें मानना होगा कि वैदिक ऋचाओं के अर्थ को समझने के लिए इनकी लाक्षणिकता को स्वीकार किये बिना अन्य कोई विकल्प नहीं है।

सायण आदि वेदों के भाष्यकारों ने सामान्य रूप में 'वृषभ' शब्द की व्याख्या एक विशेषण के रूप में की है और उसका प्रसंगानुसार बलवान, श्रेष्ठ, वर्षा करने वाला, कामनाओं की पूर्ति करने वाला-ऐसा अर्थ किया है। वे वृषभ को इन्द्र, अग्नि, रुद्र आदि वैदिक देवताओं का एक विशेषण मानते हैं एवं इसी रूप में उसे व्याख्यायित भी करते हैं। चाहे वृषभ का अर्थ बलवान या श्रेष्ठ करें अथवा उसे वर्षा करने वाला या कामनाओं की पूर्ति करने वाला कहे, वह एक विशेषण के रूप में ही गृहीत होता है। यह सत्य है कि अनेक प्रसंगों में वृषभ शब्द की व्याख्या एक विशेषण के रूप में की जा सकती है। स्वयं जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में भी वृषभ शब्द का प्रयोग एक विशेषण के रूप में हुआ है। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद के अन्त में एक गाथा में वृषभ शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है। वह गाथा निम्नानुसार है--

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।। - धम्मपद 26 ।40

अतः इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती है कि वृषभ शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में नहीं हो सकता, किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वृषभ शब्द सर्वत्र

विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त होता है। 'वृषभ' शब्द का प्रयोग साहित्य के क्षेत्र में विशेषण पद व संज्ञा पद दोनों रूपों में ही पाया जाता है।

ऋग्वेद में ही अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ वैदिक विद्वानों ने 'वृषभ' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में माना है। जैसे --

1. त्वं अग्ने वृषभः (1/31/5)
2. वृषभः इन्द्रो (1/33/10)
3. त्वं अग्ने इन्द्रो वृषभः (2/1/3)
4. वृषभं .... इन्द्रं (3/47/5)

इस प्रकार के और भी अनेक सन्दर्भ उपस्थित किए जा सकते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या 'वृषभ' शब्द को सदैव ही एक विशेषण माना जाय।

यह ठीक है कि इन्द्र वर्षा का देवता है। उसे श्रेष्ठ या बलवान माना गया है। अतः उसका विशेषण वृषभ हो सकता है किन्तु इसके विपरीत इन्द्र शब्द को भी वृषभ का विशेषण माना जा सकता है। जैन परम्परा में ऋषभ आदि तीर्थंकरों के लिए जिनेन्द्र विशेषण प्रसिद्ध ही है। अथर्ववेद (9.9.7) में इन्द्रस्य रुपं ऋषभो कहकर दोनों को पर्यायवाची बना दिया गया है। इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्य का धारक ऐसा भी होता है। इस रूप में वह वृषभ का विशेषण भी बन सकता है। जिस प्रकार वृषभ को इन्द्र, अग्नि, रुद्र, बृहस्पति आदि का विशेषण माना गया है उसी प्रकार व्याख्या को परिवर्तित करके इन्द्र, रुद्र, अग्नि और बृहस्पति को वृषभ का विशेषण भी माना जा सकता है।

यहाँ वृषभ आप इन्द्र या जिनेन्द्र हैं -- ऐसी व्याख्या भी बहुत असंगत नहीं कही जा सकती है। कुछ जैन विद्वानों की ऐसी मान्यता भी है कि वेदों में 'जात-वेदस' शब्द जो अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है वह जन्म से त्रिज्ञान सम्पन्न ज्योति स्वरूप भगवान ऋषभदेव के लिए ही है। वे यह मानते हैं कि "रत्नधरक्त", "विश्ववेदस", "जातवेदस" आदि शब्द जो वेदों में अग्नि के विशेषण है वे रत्नत्रय से युक्त विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सर्वज्ञ ऋषभ के लिए भी प्रयुक्त हो सकते है। इतना निश्चित है कि ये शब्द सामान्य प्राकृतिक अग्नि के विशेषण तो नहीं माने जा सकते हैं। चाहे उन्हें अग्निदेव का वाची माना जाय या ऋषभदेव का, वे किसी दैवीय शक्ति के ही विशेषण हो सकते हैं। जैन विद्वानों का यह भी कहना है कि अग्नि देव के रूप में ऋषभ की स्तुति का एक मात्र हेतु यही दृष्टिगत होता है, ऋषभदेव स्थूल व सूक्ष्म शरीर से परिनिवृत्त होकर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हुए उस समय उनके परम प्रशान्त स्वरूप को आत्मसात करने वाली अग्नि ही तत्कालीन जनमानस के लिए स्मृति का विषय रह गयी और जनता अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य देव का स्मरण करने लगी। (देवेन्द्रमुनि शास्त्रीः ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ.43)

जैन विद्वानों के इस चिन्तन में कितनी सार्थकता है यह एक स्वतन्त्र चर्चा का विषय है यहाँ मैं उसमें उतरना नही चाहता हूँ, किन्तु यह बताना चाहता हूँ कि विशेषण एवं विशेष्य के रूप में प्रयुक्त दोनों शब्दों में यदि संज्ञा रूप में प्रयुक्त होने की सामर्थ्य है तो उनमें किसे विशेषण और

किसे विशेष्य माना जाय -- यह व्याख्याकार की अपनी-अपनी दृष्टि पर ही आधारित होगा। साथ ही दोनों को पर्यायवाची भी माना जा सकता है।

ऋग्वेद में रुद्र की स्तुति के सन्दर्भ में भी वृषभ शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं ऋग्वेद में ही एक ओर रुद्र को उग्र एवं शस्त्रों का धारण करने वाला कहा गया वहीं दूसरी ओर उसे विश्व प्राणियों के प्रति दयावान और मातृवत् भी कहा गया है (2/33/1)। इस ऋचा की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। एक ही व्यक्ति कठोर व कोमल दोनो हो सकता है। ऋषभ के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि ये तप की कठोर साधना करते थे। अतः वे रुद्र भी थे। वैदिक साहित्य में रुद्र, सर्व, पाशुपति, ईश, महेश्वर, शिव, शंकर आदि पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैन दृष्टि से इन्हें वृषभ का विशेषण भी माना गया है। अतः किसे किसका विशेषण माना जाय, यह निर्धारण सहज नहीं है। ऋग्वेद में जो रुद्र की स्तुति है उसमें 5 बार वृषभ शब्द का और 3 बार अर्हन् शब्द का उल्लेख हुआ है। मात्र इतना ही नहीं, रुद्र को अर्हन् शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। इतना तो निश्चित है कि अर्हन् विशेषण ऋषभदेव के लिए ही अधिक समीचीन है क्योंकि यह मान्य तथ्य है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म आर्हत धर्म है। अतः ऋग्वेद में रुद्र की जो स्तुति प्राप्त होती है उसमें यदि रुद्र को वृषभ का विशेषण माना जाय तो वह वृषभ की स्तुति के रूप में भी व्याख्यायित हो सकती है। यद्यपि मैं इसे एक सम्भावित व्याख्या से अधिक नहीं मानता हूँ। इस सम्बन्ध में पूर्ण सुनिश्चितता का दावा करना मिथ्या होगा।

ऋग्वेद में वृषभ शब्द को बृहस्पति के विशेषण के रूप में भी माना गया है। यहाँ भी यही समस्या है। हम बृहस्पति को भी वृषभ का विशेषण बना सकते हैं, क्योंकि ऋषभ को परमज्ञानी माना गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वृषभ शब्द इन्द्र, अग्नि, रुद्र अथवा बृहस्पति का विशेषण माना जाय या इन शब्दों को वृषभ का विशेषण माना जाय, इस समस्या का सम्यक् समाधान इतना ही हो सकता है कि इन व्याख्याओं में दृष्टिभेद ही प्रमुख है। दोनों व्याख्याओं में किसी को भी हम पूर्णतः असंगत नहीं कह सकते। किन्तु यदि जैन दृष्टि से विचार करें तो हमें मानना होगा कि रुद्र, इन्द्र, अग्नि आदि ऋषभ के विशेषण हैं।

ऋग्वेद में हमें एक सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना यह मिलती है कि अनेक सन्दर्भों में वृषभ का एक विशेषण मरुत्वान् आया है (वृषभो मरुत्वानं (2.33.6))। जैन परम्परा में ऋषभ को मरुदेवी का पुत्र माना गया है। अतः उनके साथ यह विशेषण समुचित प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में वृषभ सम्बन्धी ऋचाओं की व्याख्या के सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट है कि अनेक प्रसंगों में उनकी लाक्षणिक व्याख्या के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रहता है।

ऋग्वेद चतुर्थ मण्डल के अट्ठावनवें सूक्त की तीसरी ऋचा में वृषभ को चार सींगों, तीन पादों या पावों, दो शीर्ष, सात हस्त एवं तीन प्रकार से बद्ध कहा गया है। यह ऋचा स्पष्ट रूप से ऋषभ को समर्पित है। इसमें ऋषभ को मृत्यों में उपस्थित या प्रविष्ठ महादेव कहा गया है। इस ऋचा की कठिनाई यह है कि इसे किसी भी स्थिति में अपने शब्दानुसारी सहज अर्थ द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सकता क्योंकि न तो वृषभ के चार सींग होते हैं, न तीन पाद, न दो

शिर होते हैं, नहीं सात हाथ होते हैं। चाहे हम किसी भी परम्परा की दृष्टि से इस ऋचा की व्याख्या करें लाक्षणिक रूप में ही करना होगा। ऐसी स्थिति में इस ऋचा को जहाँ दयानन्द सरस्वती आदि वैदिक परम्परा के विद्वानों ने हिन्दू परम्परानुसार व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया वही जैन विद्वानों ने इसे जैन दृष्टि से व्याख्यायित किया। जब सहज शब्दानुसारी अर्थ संभव नहीं है तब लाक्षणिक अर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प भी शेष नही रहता।

इसी प्रकार ऋग्वेद के 7वें मण्डल के पच्चावनवें सूक्त की सातवीं ऋचा (7.55.7) में यह कहा गया है कि सहस्र श्रृंग वाला वृषभ समुद्र से ऊपर आया। यद्यपि वैदिक विद्वान् इस ऋचा की व्याख्या में वृषभ का अर्थ सूर्य करते हैं, वे वृषभ का सूर्य अर्थ इस आधार पर लगाते हैं कि वृषभ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है जो वर्षा का कारण होता है, वह वृषभ है। क्योंकि सूर्य वृष्टि का कारण है, अतः वृषभ का एक अर्थ सूर्य भी हो सकता है। सहस्र श्रृंग का अर्थ भी वे सूर्य की हजारों किरणों से करते हैं, किन्तु जैन दृष्टि से इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि ज्ञान रूपी सहस्रों किरणों से मण्डित ऋषभदेव समुद्रतट पर आये। इसी ऋचा की अगली पंक्ति का शब्दार्थ इस प्रकार है -- उस की सहायता से हम मनुष्यों को सुला देते हैं, किन्तु सूर्य की सहायता से मनुष्यों को कैसे सुलाया जा सकता है यह बात सामान्य बुद्धि की समझ में नहीं आती है। फिर भी सहस्र श्रृंग की व्याख्या तो लाक्षणिक दृष्टि से ही करना होगा। वृषभ शब्द बैल का वाची भी है और ऋग्वेद में बैल के क्रियाकलापों की अग्नि, इन्द्र आदि तुलना भी की गई है जैसे 8वें मण्डल में शिशानो वृषभो यथाग्निः श्रृंग दविध्वत, (8.68.13) में हम देखते हैं कि अग्नि की तुलना वृषभ से की गयी है और कहा गया है कि जैसे वृषभ अपने सीगों से प्रहार करते समय अपने सिर को हिलाता है उसी प्रकार अग्नि भी अपनी ज्वालाओं को हिलाता है।

इसी प्रकार की अन्य ऋचायें भी हैं -- वृषभो न तिग्मश्रृंगोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत- (10.86.15) तीक्ष्ण सींग वाले वृषभ के समान जो अपने समूह में शब्द करता है। इसका जैन दृष्टि से लाक्षणिक अर्थ यह भी हो सकता है कि तीक्ष्ण प्रज्ञा वाले ऋषभ देव अपने समूह अर्थात् चतुर्विध संघ या परिषदा में उपदेश देते हैं और हे इन्द्र तुम भी उन पर मंथन या चिन्तन करो। ज्ञातव्य है इस ऋचा में 'न' शब्द समानता या तुलना का वाची है। इसी प्रकार 'आशुः शिसानो वृषभो न' (10.103.1) में भी तुलना है।

इस प्रकार ऋग्वेद में वृषभ शब्द तुलना की दृष्टि से बैल के अर्थ में भी अनेक स्थलों में प्रयुक्त हुआ है।

उपर्युक्त समस्त चर्चाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि ऋग्वेद में जिन-जिन स्थानों पर वृषभ शब्द का प्रयोग हुआ है उन सभी स्थलों की व्याख्या वृषभ को 'ऋषभ' मानकर नहीं की जा सकती है। मात्र कुछ स्थल है जहाँ पर ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ की व्याख्या ऋषभ के सन्दर्भ में की जा सकती है। इनमें भी सम्पूर्ण ऋचा को व्याख्यायित करने के लिये लाक्षणिक अर्थ का ही ग्रहण करना होगा। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि ऋग्वेदिक काल में वृषभ एक उपास्य या स्तुत्य ऋषि के रूप में गृहीत थे।

पुनः ऋग्वेद में वृषभ का रुद्र, इन्द्र, अग्नि आदि के साथ जो समीकरण किया गया है वह इतना अवश्य बताता है कि यह समीकरण परवर्ती काल में प्रचलित रहा। 6ठीं शती से लेकर 10वीं शती के जैन साहित्य में जहाँ ऋषभ की स्तुति या उसके पर्यायवाची नामों का उल्लेख है उनमें ऋषभ की स्तुति इसी रूप में की गयी। ऋषभ के शिव, परमेश्वर, शंकर, विधाता आदि नामों की चर्चा हमें जैन परम्परा के प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्र में भी मिलती है[23]।

ऋग्वेद में उपलब्ध कुछ ऋचाओं की जैन दृष्टि से ऋषभदेव के प्रसंग में व्याख्या करने का हमने प्रयत्न किया है। विद्वानों से यह अपेक्षा है कि वे इन ऋचाओं के अर्थ को देखें और निश्चित करें कि इस प्रयास की कितनी सार्थकता है। यद्यपि मैं स्वयं इस तथ्य से सहमत हूँ कि इन ऋचाओं का यही एक मात्र अर्थ है ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। अग्रिम पंक्तियों में कुछ ऋचाओं का जैन दृष्टिपरक अर्थ प्रस्तुत है। मेरी व्यस्तताओं के कारण वृषभवाची सभी 112 ऋचाओं का अर्थ तो नहीं कर पाया हूँ मात्र दृष्टि-बोध के लिये कुछ ऋचाओं की व्याख्या प्रस्तुत है। इस व्याख्या के सम्बन्ध में भी मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि इन ऋचाओं के जो विभिन्न लाक्षणिक अर्थ सम्भव हैं उनमे एक अर्थ यह भी हो सकता है। इससे अधिक मेरा कोई दावा नहीं है।

ऋषभ वाची ऋग्वैदिक ऋचाओं की जैन दृष्टि से व्याख्या

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
अजोषा वृषभं पतिम्।। (1.9.4)

हे इन्द्र ! (अजोषा) जिन्होंने स्त्री का त्याग कर दिया है, उन ऋषभ (पतिम्) स्वामी के प्रति आपकी जो अनेक प्रकार की वाणी (स्तुति) है, वह आपकी (भावनाओं) को उत्तमता पूर्वक अभिव्यक्त करती है। (ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में इन्द्र ही सर्वप्रथम जिन की स्तुति करता है - शक्रस्तव (नमोत्थुणं) का पाठ जैनों में सर्व प्रसिद्ध है)

त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्धन उद्यतस्रुचे भवसि श्रवाय्यः।
य आहुतिं परि वेदा वषट्कृतिमेकायुरग्ने विश आविवाससि।। (1.31.5)

हे ज्योतिस्वरूप वृषभ ! आप पुष्टि करने वाले हैं जो लोग होम करने के लिए तत्पर हैं उनके लिए आ करके आप सुनने योग्य हैं अर्थात् उन्हें आहूत होकर आपके विचारों को जानना चाहिए। आप का उपदेश जानने योग्य है क्योंकि उसके आधार पर उत्तम क्रियायें की जा सकती हैं। आप एकायु अर्थात् चरम शरीरी हैं और तीर्थंकरों में प्रथम या अग्र हैं और प्रजा आप में ही निवास करती है अर्थात् आप की ही आज्ञा का अनुसरण करती है।

[ज्ञातव्य है - वैदिक दृष्टि से अग्नि के लिये एकायु एवं अग्र विशेषण का प्रयोग उतना समीचीन नहीं है जितना वृषभ तीर्थंकर के साथ है। उन्हें एकायु कहने का तात्पर्य यह है कि जिनका यही अन्तिम जीवन है। दूसरे प्रथम तीर्थंकर होने से उनके साथ अग्र विशेषण भी उपयुक्त है]

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत।।(1.33.10)

हे स्वामी (वृषभदेव) ! न तो स्वर्ग के और न पृथ्वी के वासी माया और धनादि (परिग्रह) से परिभूत होने के कारण आपकी मर्यादा (आपकी योग्यता) को प्राप्त नहीं होते हैं। हे वृषभ ! आप समाधियुक्त (युज), अतिकठोर साधक, व्रजमय शरीर के धारक और इन्द्रों के भी चक्रवर्ती है – ज्ञान के द्वारा अन्धकार (अज्ञान) का नाश करके गा अर्थात् प्रजा को सुखों से पूर्ण कीजिये।

आ चर्षणिप्रा वृषभो जनानां राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः।
स्तुतः श्रवस्यन्नवसोप मद्रिग्युक्त्वा हरी वृषणा याह्यर्वाङ्।।(1.177.1)

बहुतों में प्रसिद्ध तथा बहुतों के द्वारा संस्तुत सबके उस विचक्षण बुद्धि महान ऋषभदेव की इस प्रकार स्तुति की जाती है। वह स्तुत्य होकर हमें वीरता, गोधन एवं विद्या प्रदान करें। हम उस तेजस्वी (ज्ञान) दाता को जाने या प्राप्त करें।

त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या।।(2.1.3)

हे ज्योति स्वरूप जिनेन्द्र ऋषभ आप सत्पुरुषों के बीच प्रणाम करने योग्य है। आप ही विष्णु है और आप ही ब्रह्मा हैं तथा आप ही विभिन्न प्रकार की बुद्धियों से युक्त मेधावी हैं। जिस सप्त किरणों वाले वृषभ ने सात सिन्धुओं को बहाया और निर्मल आत्मा पर चढ़े हुए कर्ममल को नष्ट कर दिया। वे बज्रबाहु इन्द्र अर्थात् जिनेन्द्र आप ही हैं।

उन्मा अनानुदो वृषभो दोधतो वधो गम्भीर ऋष्वो असमष्टकाव्यः।
रध्रचोदः श्नथनो वीलितस्पृथुरिन्द्रः सुयज्ञः उषसः स्वर्जनत्।।(2.21.4)

दान देने में जिनके आगे कोई नहीं निकल सका ऐसे संसार को अर्थात् जन्म-मरण को क्षीण करने वाले कर्म शत्रुओं को मारने वाले असाधारण, कुशल, दृढ़ अगों वाले, उत्तम कर्म करने वाले ऋषभ ने सुयज्ञ रूपी अहिंसा धर्म का प्रकाशन किया।

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद्दमिता वीळुहर्षिणः।।(2.23.11)

हे ज्ञान के स्वामी वृषभ तुम्हारे जैसा दूसरा दाता नही है। तुम आत्म शत्रुओं को तपाने वाले, उनका पराभव करने वाले, कर्म रूपी ऋण को दूर करने वाले, उत्तम हर्ष देने वाले कठोर साधक व सत्य के प्रकाशक हो।

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्।
घृणीव च्छायामरपा अशीयाऽऽविवासेयं रुद्रस्य सुम्नम्।। (2.33.6)

मरुत्वान् अर्थात् मरुदेवी के पुत्र ऋषभ हम (भिक्षुओं) को तेजस्वी अन्न से तृप्त करे। जिस प्रकार धूप से पीडित व्यक्ति छाया का आश्रय लेता है उसी प्रकार मैं भी पाप रहित होकर कठोर साधक वृषभ के सुख को प्राप्त कर व उनकी सेवा करूँ अर्थात् निर्वाण लाभ प्राप्त करूँ।

प्रदीधितिर्विश्ववारा जिगाति होतारमिलः प्रथमं यजध्यै।
अच्छा नमोभिर्वृषभं वन्दध्यै स देवान्यक्षदिषितो यजीयान।। (3.4.3)

समग्र संसार के द्वारा वरेण्य तथा प्रकाश को करने वाली बुद्धि सबसे प्रथम पूजा करने के लिए ज्योति स्वरूप ऋषभ के पास जाती है। उस ऋषभ की वन्दना करने के लिए हम नमस्कार करते हुए उसके पास जायें। हमारे द्वारा प्रेरित होकर वह भी पूजनीय देवों की पूजा करें।

अषालहो अग्ने वृषभो दिदीहि पुरो विश्वाः सौभगा संजिगीवान।
यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायोजातवेदो बृहतः सुप्रणीते।। (3.15.4)

हे अपराजित और तेजस्वी वृषभ आप सभी ऐश्वर्यशाली नगरों में धर्म युक्त कर्मों का प्रकाश कीजिए। हे सर्वज्ञ ! आप अहिंसा धर्म के उत्तम रीति से निर्णायक हुए, आप ही त्याग मार्ग के प्रथम नेता है। (ज्ञातव्य है कि यहां यज्ञ शब्द को त्याग मार्ग के अर्थ में ग्रहीत किया गया है।)

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम।
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह त्वं हुवेम।। (3.47.5)

मरुत्वान् विकासमान अवर्णनीय दिव्य शासक सभी (कर्म) शत्रुओं को हराने वाले वीर ऋषभ को हम आत्म-रक्षण के लिए यहाँ आमंत्रित करते हैं।

सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्तुभावदन्धसः सुतस्य।
साधोः पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिरः प्रथमं सोम्यस्य।। (3.48.1)

उत्पन्न होते ही महाबलवान, सुन्दर व तरुण उन वृषभ ने अन्नदान करने वालों का तत्काल रक्षण किया। हे जिनेन्द्र वृषभ ! समता रस के अन्दर मिलाये-मिश्रण का आप सर्वप्रथम पान करें।

पतिर्भव वृत्रहन्त्सूनृतानां गिरां विश्वायुर्वृषभो वयोधाः।
आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान्महीभिरूतिभिः सरण्यन।। (3.31.18)

हे अज्ञान रूपी बादलों के विनाशक, सत्य और आनन्ददायक वाणियों के स्वामी पूर्ण आयु वाले (विश्वायु) महान वृषभ मित्रता के भाव से युक्त होकर तथा शिव मार्ग (मोक्ष मार्ग) का प्रतिपादन करने हेतु त्याग मार्ग की ओर जाते हुए हमारी ओर आईये।

महाँ उग्रो वावृधे वीर्याय समाचक्रे वृषभः काव्येन।
इन्द्रो भगो वाजदा अस्य गावः प्र जायन्ते दक्षिणा अस्यपूर्वीः ।।(3.36.5)

वे महान ऐश्वर्यवान, कठोरतपस्वी भगवान वृषभ अपने पुरुषार्थ के लिए अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ते हैं। उनकी प्रजा और दान पूर्वकाल से ही प्रसिद्ध है।

[ज्ञातव्य है कि ऋषभ प्रथम शासक थे और उन्होने अपनी प्रजा को सम्यक् जीवन शैली सिखायी थी तथा दीक्षा के पूर्व विपुल दान दिया था। इसी दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि उनकी प्रजा (गाव) एवं दान पूर्व से ही प्रसिद्ध है।]

असूत पूर्वो वृषभो ज्यायानिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः।
दिवो नपाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे।। (3.38.5)

उन श्रेष्ठ ऋषभदेव ने पूर्वों को उत्पन्न किया अथवा वे पूर्व ज्ञान से युक्त हुए। जिस प्रकार वर्षा करने वाला मेघ (वृषभ) पृथ्वी की प्यास बुझाता है उसी प्रकार वे पूर्वों के ज्ञान के द्वारा जनता की प्यास को बुझाते हैं। हे वृषभ ! आप राजा और क्षत्रिय हैं तथा आत्मा का पतन नहीं होने देते हैं।

यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथ नि दधाति रेतः।
स हि क्षपावान्त्स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम्।। (3.55.17)

जिस प्रकार वृषभ अन्य यूथों में जाकर डकारता है और अन्य यूथों में जाकर अपने वीर्य को स्थापित करता है। उसी प्रकार ऋषभदेव भी अन्य दार्शनिक समूह में जाकर अपनी वाणी का प्रकाश करते हैं और अपने सिद्धान्त का स्थापन करते हैं। वे ऋषभ कर्मों का क्षपन करने वाले अथवा संयमी अथवा जिनका प्रमाद नष्ट हो ऐसे अप्रमत्त भगवान, राजा, देवों और असुरों में महान हैं।

चत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।। (4.58.3)

वे ऋषभ देव अन्नत चतुष्टय रूपी चार श्रृंगो से तथा सम्यक ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूपी तीन पादों से युक्त हैं। ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग ऐसे दो सिरों, पाँच इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि ऐसे सात हाथों से युक्त हैं। वे तीन योगों से बद्ध होकर मृत्यों में निवास करते हैं। वे महादेव ऋषभ अपनी वाणी का प्रकाशन करते हैं।

सन्दर्भ

1. जैन, डॉ. सागरमल, जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग, राजस्थान प्राकृत भारती, जयपुर 1982, पृ. भूमिका पृ. 6-10
2. निग्गंथ सक्क तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा-पिण्डनिर्युक्ति 445, निर्युक्तिसंग्रह सं. विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थ माला लाखाबाबल जामनगर
3. (अ) निग्गंथ धम्मम्मि इमा समाही, सूयगडो, जैन विश्वभारती लाडँनू 2 ।6 ।42
   (ब) निगण्ठो नाटपुत्तो -- दीघनिकाय, महापरिनिव्वाण सुत्त-सुभधपरिव्वाजकवत्थुन 3 ।23 ।86
   (स) निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति -- जैन शिलालेखसंग्रह भाग-2, लेख क्रमांक -1
4. इसिभासियाइं सुत्ताइं - प्राकृत भारती अकादमी जयपुर, 1988
   देखें-- भूमिका, सागरमल जैन, पृ. 19-20 [सामान्यतया सम्पूर्ण भूमिका ही द्रष्टव्य है]
5. ज्ञातव्य है कि ऋग्वेद 10 ।85 ।4 में बार्हत शब्द तो मिलता है, किन्तु आर्हत शब्द नहीं मिलता है यद्यपि अर्हन एवं 'अर्हन्तो' शब्द मिलते हैं, किन्तु ब्राह्मणों, आरण्यकों आदिमें आर्हत और बार्हत दोनों शब्द मिलते हैं।
6. देखें-- सुतं मेतं भन्ते-वज्जी यानि तानि वज्जीनं वज्जिचेतियानि अब्भन्तरानि चेव बाहिरानि तानि सक्कारोन्ति गरुं करोन्तिमानेन्ति पूजेन्ति।
   ..वज्जीनं अरहन्तेसु धम्मिका रक्खाआवरणगुत्ति, सुसंविहिता किन्ति अनागता च अरहन्तो विजितं आगच्छेय्युं आगता च अरहन्तो विजिते फासु विहरेय्युं। -- दीघनिकाय महापरिनिव्वाणसुत्तं 3 ।1 ।4 (नालन्दा देवनागरी पालि सिरीज)
7. देखें-- संस्कृत-हिन्दी कोश - बृहत् (वि.) स्त्री. ती, बृहती नपुं. 1 वेद 2 सामवेद का मंत्र, 3 ब्रह्म (सं. वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास देहली-7 द्वि सं. 1984, पृ. 720)
8. देखें-- देवो देयान् यजत्विग्नरर्हन् ऋग्वेद 1 ।94 ।1, 2 ।3 ।1, 3, 2 ।33 ।10, 5 ।7 ।2, 5 ।52 ।5, 5 ।87 ।5, 7 ।18 ।22, 10 ।99 ।7,
   वैदिक पदानुक्रम-कोष, प्रथमखण्डः विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियार पुर, 1976, पृ. 518
9. जुद्धारिहं खलु दुल्लभं। -- आचारांग 1 ।1 ।5 ।3
   इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ - आचारांग 1 ।1 ।5 ।3
10. (A) Radha Krishnan-Indian philosophy (Ist edition) Vol.1, p. 287.

(B) Indian Antiquary, Vol. IX, Page 163.

11. बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः नाभेः प्रिय चिकीर्षया तदवरोधाय ने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितु कामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्धिनां शुक्लया तन्वावतार। --श्रीमद्भागवत 5 ।3 ।20

12. देखें-- (अ) लिंगपुराण 48 ।19-23
    (ब) शिवपुराण 52 ।85
    (स) आग्नेयपुराण 10 ।11-12
    (द) ब्रह्नाण्डपुराण 14 ।53
    (इ) विष्णुपुराण-द्वितीयांश अ.1 ।26-27
    (एफ) कूर्मपुराण 41 ।37-38
    (जी) वराहपुराण अ.74
    (एच) स्कन्धपुराण अध्याय 37
    (आई) मार्कण्डेयपुराण अध्याय 50 ।39-41

    देखें अहिंसावाणी - तीर्थंकर भ. ऋषभदेव विशेषांक वर्ष 7 अंक 1-2
    मरुपुत्र ऋषभ - श्री राजाराम जैन, पृ.87-92

13. वृषभ यथा शृंगे शिशानः दविध्वत् - वृषभ = बैल 8 ।60 ।13, 6 ।16 ।47, 7 ।19 ।1

14. वृषभः इन्द्रः वज्रं युजं - वृषभ = बलवान 1 ।33 ।10
    त्वं वृषभः पुष्टिवर्धन - वृषभ = वलिष्ट 1 ।31 ।5

15. देखें-- ऋषभ एवं बृषभ शब्द - संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1984, पृष्ठ 224 एवं 973

16. वृषभः = वर्षा करने वाला 5 ।58 ।3
    ज्ञातव्य है कि स्वामी दयानन्द ने इन्द्र के साथ प्रयुक्त वृषभ शब्द को इन्द्र का विशेषण मानकर उसका अर्थ वर्षा करने वाला किया है। देखें - 5 ।43 ।13, 5 ।58 ।6

17. वृषभः बृहस्पति = कामनाओं के वर्षक बृहस्पति - 10 ।92 ।90
    वृषभः प्रजां वर्षतीति वाति बृहतिरेत इति वा तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः ।
    - निरुक्तम् (यास्कमहर्षि प्रकाशितं) 9 ।22 ।1

18. अनर्थका हि मन्त्राः - निरुक्त, अध्याय 1 खण्ड 15 पाद 5 सूत्र 2
    - खेमराज श्रीकृष्णदास मुम्बय्यां संवत् 1982

19. ऋग्वेद भाषाभाष्य - दयानन्द सरस्वती - दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-5
    देखें - ऋग्वेद 10 ।111 ।2 का भाष्य।

20. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य पद्मभूषण डॉ. श्री पाद दामोदर सतवलेकर स्वाध्याय मण्डल पारडी - जिला बलसाद, 1985
    देखें ऋग्वेद 10 ।111 ।2 का भाष्य।

21. वही, देखें ऋग्वेद 4 ।58 ।3

22. ऋग्वेद भाषा भाष्य, दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-5
देखें – ऋग्वेद 4 158 13

23. भक्तामरस्तोत्र (मानतुंग), 23, 24, 25

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस --
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः ।।23।।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ।।24।।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि।।25।।

– डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5.